ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

भूण्डलीकरण और विनिवेश नीति

[1]डॉ0 राजेश चन्द्र मिश्र

[1]एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य, हीरालाल रामनिवास स्ना0 महाविद्यालय, खलीलाबाद, संत कबीर नगर

Received: 07 Jan 2019, Accepted: 13 Jan 2019 ; Published on line: 15 Jan 2019

Abstract

भूण्डलीकरण के नाना लोगों के लिए नाना आशय हैं। इसके तीर से जो जैसा भिदा, उसके लिए उसका वही रूप हो गया। कुछ लोगों के लिए यह विश्व पूँजीवाद में अपने लिए सार्थक अवसर तलाश लेने का समय होगा, तो वहीं कुछ लोगों के लिए राष्ट्रराज्य से परे एक वैश्विक परिदृश्य में विचरण करने, विश्व गाँव के अनुभव करने का सच्चा अवसर प्रतीत होगा। कुछ राजनीति विज्ञानियों के लिए वैश्वीकरण विश्व के एक ध्रुवीय होने और अमेरिकी वर्चस्व का ही नाम है। कुछ समाज वैज्ञानिकों के लिए भूमण्डलीकरण पारम्परिक समाजों की जकड़बन्दी को ढीली करके उसे नये सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिवेश से जोड़ने का नाम है।

शब्द कुंजी : – भूण्डलीकरण और विनिवेश नीति, नवसृजित और नव–विस्तृत वैश्विक उपभोक्ता समूह, विश्व संस्कृति एवं देसी संस्कृति।

Introduction

भूमण्डलीकरण का अद्यतन संदर्भ उसका सांस्कृतिक उपक्रम है। यह उसका सबसे नया चरण भी है। इस चरण के विशेषता है कि नवसृजित और नव–विस्तृत वैश्विक उपभोक्ता समूह विश्व संस्कृति एवं देसी संस्कृति को बाजार में नये ढंग से परोसकर उसका एक अलग ही संस्करण तैयार कर रहा है। इसमें साफ्टवेयर और हार्डवेयर के अनेक संसाधन उसकी मदद कर रहे हैं। ''इस चरण की अहमियत दो तत्वों के मिलन से उपजती है, जिनमें एक है नव–विस्तृत और नए आत्मविश्वास से भरा उपभोक्ता समूह जो ग्लोबल सम्पन्न वर्ग की जीवनशैली का देसी संस्करण तैयार करने में जुटा है और दूसरा है इस समूह को संबोधित करने की तीव्र इच्छा लिए अनन्त संसाधनों से लैस विश्वस्तरीय कम्पनियों का जमावड़ा। इस दोनों तत्वों का मिलन आजाद हिन्दुस्तान में पहली बार बीसवीं शताब्दी के अन्त में सम्भव हो सका है।''

दरअसल, भूमण्डलीकरण एक वृहद् राजनैतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया का नाम है। यह वस्तुतः एक वृहत् आर्थिक परियोजना, जिसमें पूंजी को पंख लग जाते हैं और वह राष्ट–राज्य की परिधि के बाहर कहीं भी अपनी उपस्थिति जताती है। यही नहीं, रातो–रात पूँजी और उसके निवेश का स्वरूप बदल जाता है। यह ग्लोब के एक छोर से दूसरे छोर चली जाती है। देश और काल की सीमाओं का संकुचन एवं संपीडन पूँजी के सन्दर्भ में विशेष रूप से देखने लायक है। अब गौरतलब बात यह है कि पूँजी का जितना तेज प्रसार एवं प्रवाह है, श्रम का नहीं। पूँजी बाजार में जिस तरह से राष्ट्र–राज्य की परिकल्पनाएँ टूट रही हैं, उसी तरह से श्रम के क्षेत्र में भी क्यों नहीं

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

होता ? इस ग्लोबल विश्व में यह एक अकल्पनीय बात है कि सहरसा, सीवान, पूर्णिया, बस्ती जैसे पिछड़े जिलों के श्रमिक, विश्व श्रमिक बनकर अपने रोजगार एवं रोजगार की सम्भावनाओं को तलाशते हुए न्यूयार्क की सड़कों पर दिखें। पूँजी के क्षेत्र में क्यूबा, वियतनाम, भारत आदि देशों को वैश्वीकरण के वकील यह सलाह देते फिरेंगे कि बाजार खोलो। मुक्त–बाजार– व्यवस्था ही नयी मुक्तिदात्री है। इसी के रास्ते समाजवादी अर्थव्यवस्था की जकड़बंदी टूटेगी। विकास को गति मिलेगी। लेकिन भई, यहाँ दुहरा सवाल यह है कि यह वैश्वीकरण श्रमिकों के मुक्त–प्रवाह को क्यों नहीं प्रोत्साहित करता और वैश्वीकरण को सिर्फ पूँजी और उपभोक्ता–सामग्री तक ही क्यों सीमित रखा जा रहा है ?

क्या यह सच नहीं है जब से वैश्वीकरण का आर्थिक सन्दर्भ इस देश में प्रबल हुआ है, पूरा देश उपभोक्ता सामग्रियों के लिए एक बड़ा बाजार बनता जा रहा है। वैश्वीकरण का वह पहलू जिससे गाँव, मुहल्ले और शहर औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र बनते, वह नदारत क्यों होता रहा है ? भारत के कुछ पश्चिमी भागों विशेषकर गुजरात, पश्चिमी महाराष्ट्र और कर्नाटक के कुछ हिस्सों को छोड़कर सारे भारत में जैसे औद्योगीकरण का उच्छेदन ;कम.पदकनेजतपंसपेंजपवदद्ध हो रहा हो। क्या देश के अर्थनीति निर्माताओं के लिए यह चिन्ता जनक समय नहीं है, जब चन्द नौकरियों के लिए दो पिछड़े राज्यों– असम और बिहार के परीक्षार्थी एक दूसरे की हत्या तक करने पर उतारू हो गये थे ? बिहार एवं झारखण्ड के बीच भी इसी तरह का तनाव चल रहा। आखिर नौकरी विहीन आर्थिक–संवृद्धि (Economic growth) लेकर हम क्या करेंगे, जब इस देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा दर–बदर ठोकरें खायेगा और यह स्थापित सत्य है कि अगर देश का बड़ा हिस्सा विपन्न होगा तो कैंसर–ग्रस्त इस आर्थिक संवृद्धि का लाभ सम्पन्न लोग भी नहीं उठा पायेंगे। इस प्रकार रोजगारोन्मुख समतामुक्त विकास हमारे समय की माँग बनती जा रही है। अस्तु, अगर वैश्वीकरण एक तथ्य है, या यही युग–सत्य है, और इस दौर में इसका कोई विकल्प न हो तो भी, हम चाहेंगे कि विकास–चिन्तकों को इस दिशा में विशेष रूप से सोचना चाहिए। सिर्फ सोचना ही नहीं, बल्कि यथाशीर्घ क्रियान्वयन के बारे में भी विचार करना चाहिए। आज वस्तुस्थिति यह है कि देश जितनी जल्दी हो सके, ग्लोबल निहितार्थों में शामिल होने को व्यग्र है। जरा ठहर कर सोचने का किसी के पास समय नहीं है। जबकि यही सही समय है जब हम अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए आर्थिक–सुधार और उसके वैश्विक पहलुओं पर गौर करें। गौर करना इस नाते भी जरूरी है कि कहीं हम लोग जो संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने विकास का प्रतिमान मान चुके हैं, उसे भी अपने विकास का प्रस्थान–बिन्दु मान बैठे हैं, कहीं अनजाने ही थॉमस फ्रीडमान ;जीवउें थ्तपमकउंदद्ध जैसे साम्राज्यवादी अमेरिकियों की गिरफ्त में तो नहीं आते जा रहे हैं ? थॉमस फ्रीडमान ने विभ्रान्त शब्दों में यह घोषण की] "We Americans are apostles of the Fast World, the prophets of the free market and high priests of high technology. We want 'enlargement' of both our values and Pizza Huts. We want the world to follow our lead and become democratic and capitalistic, with a website in every pot, a Pepsi on every lip, Microsoft Windows in every computer and everywhere pumping our own gas." अब अगर वैश्वीकरण की छिपी मंशा या गुप्त एजेण्डा यह है तो निश्चित रूप से हमें अपनी अर्थनीति पर पुनर्विचार करना होगा। इस क्रम में पुरानी आत्मनिर्भरता वाली अर्थनीति पर भी दृष्टि पात करना होगा।

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

असल में, जवाहरलाल नेहरू का सपना था, बल्कि जवाहर लाल ही क्यों, उस दौर का समूचा आर्थिक नेतृत्व यह चाहता था कि भारत को 'आत्मनिर्भर आधुनिक अर्थव्यवस्था' बनाया जाय। देश की इस आर्थिक इमारत के वास्तुशास्त्री बने– प्रो0 महालनोविस। विकास के इस मॉडल को महालनोविस मॉडल कहा गया। हालाँकि यह मॉडल उस दौर में आर्थिक–राजनीतिक आम–सहमति के आधार पर ही बना था। अपने दौर की समस्याओं, आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को यथोचित सम्बोधित करने वाले मॉडल के रूप में इसकी ख्याति थी। विकास के महालनोविस मॉडल में सतत् आर्थिक विकास के साथ घरेलू बाजार के विकास पर बल दिया गया था। यह प्रस्तावित था कि घरेलू बाजार मोटे तौर पर देशी उत्पादों के निमित्त था। इसमें सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अतः राज्य द्वारा प्रायोजित योजनाएं बड़े उत्साह और आकांक्षा से शुरू की गयी। क्षेत्रीय और आय की असमानता को दूर करने के लक्ष्य को प्रमुखता के साथ रेखांकित किया गया। इस मॉडल की खास बात यह थी कि इसमें इस बात पर विशेष रूप से बल दिया गया था कि सामाजिक–आर्थिक न्याय को अधिक से अधिक मुनाफा कमाने पर अधिक प्राथमिकता दी जायेगी। यह एक मिश्रित अर्थव्यवस्था थी। नेहरू ने जिस मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया था, वह सोवियत ढंग से सामूहिकतावाद (Collectiveism) और बाजार की शक्तियों के बीच का मार्ग था।

अब भला इस लक्ष्य से किसी को क्या असहमति हो सकती है ? लेकिन सन् 1977 ई0 के बाद यह आरोप लगाये जाने लगा कि नेहरूवादी अर्थतंत्र ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया। लालफीताशाही, लाइसेन्स–परमिट राज और धीमी गति का हिन्दू विकास–दर इत्यादि इस अर्थव्यवस्था की प्रमुख पहचान बनकर रह गयी। वैसे क्रियान्वयन में कुछ त्रुटियाँ अवश्य थीं। इन त्रुटियों के साथ–साथ परिदृश्य भी इस किस्म के अर्थव्यवस्था के पक्ष में नहीं रह गया था। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के विघटन ने साम्यवादी विकास के मॉडल से विश्वास को डिगाया। यहाँ तक भारत के धुरन्धर मार्क्सवादी विचारक भी कुछ विचलित होने लगे। देश के अर्थतंत्र में नये किस्म के बदलाव की चिन्ता होने लगी। यह चिन्ता नब्बे के दशक से बहुत ही शिद्दत के साथ महसूस की जा रही थी।

देश की अर्थव्यवस्था में बदलाव लाने के इस आन्तरिक अनुभूति के साथ–साथ वैश्विक परिदृश्य भी परिवर्तनकारी था। इस दौर में वैश्वीकरण, विश्वग्राम, आर्थिक उदारीकरण, संरचनात्मक सुधार जैसी पदावलियाँ विश्व–पटल पर जेरे–बहस थी। यह बहस एक विजयी विचारधारा जैसी थी। इसमें आशय यही था कि समाजवादी विकास का मॉडल चुक गया है, अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था, मुक्त विश्व मंडी और वैश्वीकरण ही आज की ऐतिहासक सच्चाई है, इसी में प्रत्येक देश को ढलना होगा। इस तरह के दावों एवं उद्घोषों के बीच भारत ने भी आर्थिक उदारीकरण और विश्व बाजार के लिए अपने दरवाजों को खोलने का निर्णय लिया। भारत में इसके प्रमुख आयाम हैं–

(क) रूपये की परिवर्तनीयता, (ख) विदेशी सांस्थानिक निवेश और सीधे निवेश पर बल, (ग) भारतीय कम्पनियों को वैश्विक (ग्लोबल) बनाने पर बल, (घ) विश्व–व्यापार संगठन के दिशा–निर्देशों के अनुरूप तटकर में कमी।

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

इस प्रकार भारत को वैश्विक बाजार में लाकर खड़ा कर दिया गया। इस बात पर विचार किये बगैर कि अब आयात नियमन, लाइसेन्स परमिट आदि के माध्यम से इन्हें विकास का अवसर नहीं दिया गया था और अब उन्हें विश्व प्रतियोगिता में खड़ा कर दिया गया। भारत जैसे विशाल बाजार के बावजूद भारतीय फर्मों को नयी आर्थिक नीति में भी उत्पादकता और गुणवत्ता को बढ़ाने का प्रोत्साहन नहीं दिया गया। इस प्रकार यह सही है कि हम भूमण्डलीकृत विश्व बाजार में खड़े हैं, लेकिन इसमें खड़े होने के लायक अभी हमारे पैरों की ताकत नहीं है। अगर वर्तमान आर्थिक बदलाव पर गौर फरमाएँ तो हमें फांज काफ्का ;थ्तंद्र झांद्धि के उपन्यास कैसल की इन पंक्तियों से सहमत होना होगा कि ''असली परिवर्तन के बजाय छदम् परिवर्तन की वंचनाएँ अधिक आती हैं।'' यह सही है कि आर्थिक उदारीकरण के बाद भारत ने तरक्की की है। सड़कों पर नये–नये मॉडल के वाहनों, मोबाइल सेटों, कम्प्यूटरों, रेफ्रीजरेटरों इत्यादि उपरोक्त सामग्रियों की धूम मची हुई है। इलेक्ट्रानिक मीडिया भी अपने ब्राण्ड अम्बेसडरों, मार्केट आइकनों के द्वारा लोगों के जेहन में विकास की एक तस्वीर रच रहा है, लेकिन यदि हम बढ़ती बेरोजगारी, तद्जनित अपराध, किसानों और विकास की परिधि पर धकेल दिये गये मध्यवित्त वर्ग के लोगों में बढ़ती आत्महत्या की प्रवृत्ति पर दृष्टिपात करें, तो क्या सारा विकास छद्म एवं वंचनापूर्ण नहीं दिखेगा ?

दूसरा अहम सवाल तो यही है कि जिस ढंग से अधिक उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर हम भारत के उपभोक्तावादी संस्कृति का सृजन कर रहे हैं, क्या वह अपने आप में खतरनाक नहीं है ? बहुत दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि आज का दौर आकांक्षा एवं भूख को सृजित करने का दौर है। इसमें कुछ सक्षम लोग ही अपनी आकांक्षा को तृप्त कर पा रहे हैं। शेष लोग अवसादग्रस्त होने, कुंठित होने या फिर आत्महत्या कर लेने को अभिशप्त हैं। क्या यह बड़ी चुनौती नहीं है कि अपरिग्रह, अस्तेय और त्यागपूर्वक भोग करने वाली (त्यक्तेन भुंजीथा–ईशोपनिषद) जैसे महान आदर्शों की बुनियाद वाली भारतीय संस्कृति की चूलें हिला देने पर हम आमादा हैं ? ''ये प्यास है बड़ी'' और ''दिल माँगे मोर'' भूमण्डलीकृत बाजार व्यवस्था के विज्ञापनी मूलमंत्र हो सकते हैं ? लेकिन हमें यह भी तो सोचना होगा कि इससे हमारी संस्कृति और सभ्यता किस मकाम पर पहुँच सकती है ?

भूमण्डलीकरण की एक बड़ी चुनौती स्वयं यह भी है कि कहीं आने वाला समय किसी खास वर्ग या देश के वर्चस्व का तो नहीं है ? वैश्वीकृत बाजार व्यवस्था में पुरानी स्वतंत्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, घरेलू बाजार और संसाधन तथा राष्ट्रीय हित का अवधारणा के परित्याग की बात कई पश्चिमी हलकों में की जा रही है। लेकिन कुछ लोग निभ्रान्त भाव से इसे पश्चिमीकरण और विशेष रूप से अमेरिकीकरण का पर्याय मानते हैं। हेनरी किसिंगर ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में 12 अक्टूबर, 1999 को ट्रिनिटी कॉलेज, डबलिन में कहा था कि वाशिंगटन आम सहमति से जो भूमण्डलीकरण हो रहा है, उसका सीधा अर्थ होगा– अमेरिकी विचार और संस्कृति का वर्चस्व। यह सामान्य रूप से पश्चिमीकरण है और विशेष रूप से अमेरिकीकरण। आगे वे बिना लाग लपेट के कहते हैं& "The basic challenge is that what is called globalisation is really another name for the dominant role of the United States." इस प्रकार भूमण्डलीकरण के मिश्रित वरदान को ग्रहण करते समय निश्चित रूप से हम भारतीयों को चौकन्ना रहना चाहिए। यह जो सारे देशों पर, उनकी अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं को

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

नजरअन्दाज करके, एक ही फार्मूला लागू किया जा रहा है, अच्छा नहीं है। सब पर एक ही साइज का जामा फिट होगा– ऐसा कहना कितना तर्कसंगत है– इस पर विचार करना होगा।

यह बात उन दिनों की है, जब सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की अर्थव्यवस्थाएँ एक के बाद एक उच्छेदित हो रही थी। चीन भी साम्यवादी व्यवस्था से मार्केट सोशलिज्म जैसे प्रत्यय के शरण में जा चुका था, उन्हीं दिनों बी0बी0सी0 रेडियों के एक संवाददाता को मुक्त बाजार व्यवस्था की बड़ी राजनीतिक प्रवक्ता एवं ब्रिटेन की तेजतर्रार पूर्व प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर ने कहा था कि बाजार एक प्राकृतिक संस्था है। इसे किसी ने एक दिन में नहीं बना दिया। यह एक स्वाभाविक विकास की देन है, जैसे परिवार। मनुष्य की आदान–प्रदान की नैसर्गिक जरूरतों ने इसका सृजन किया है। आगे साम्यवादी अर्थतन्त्र की भूरि–भूरि भर्त्सना करते हुए वे बताती हैं कि इसने बाजार जैसी प्राकृतिक संस्था को नियंत्रित करने का प्रयास किया था, इसी कारण इसे मुँह की खानी पड़ी।

बहरहाल, यहाँ बाजार के प्राकृतिक रूप एवं उसकी स्वाभाविकता पर किसी को संदेह भला कैसे हो सकती है ? निश्चित रूप से यह सदियों से मानवीय कार्य–व्यापार का अभिन्न अंग रहा है। लेकिन अहम सवाल तो यह है कि इस पर नियंत्रण एवं वर्चस्व किसका है ? इसका संचालन कौन कर रहा है ? नकेल किसके हाथ में है ? यह भी सदियों पुराना सवाल है, लेकिन इस एकध्रुवीय विश्व में इस प्रश्न की अर्थवत्ता और बढ़ जाती है। यहाँ जेरे–बहस गाँव–ज्वार के स्थानीय हाट नहीं हैं और न ही गये दिनों की व्यापारिक पाल नौकाएँ एवं मुद्रतटीय हाट या फिर सिल्क रुट की रुमानी व्यापारिक यात्राएँ व उनका बाजार। हालाँकि बाजार उस समय भी था। लेकिन उस समय उसमें वर्चस्व की संरचनाएँ उतनी प्रभावी नहीं थीं। बाजार की सक्षम, सामर्थ्ययुक्त एवं वर्चस्वकारी उपस्थिति पूँजीवाद एवं तद्जनित उपनिवेशवाद के युग में होती हैं। उपनिवेशीकरण और दोनों विश्व–युद्धों के पीछे बाजार पर कब्जा करने की मंशा झलक रही थी। यह मंशा अब भी है। बल्कि यह अब और अधिक हो गयी है। बस, उसके टूल्स एवं उसकी प्रकृति बदल गयी है।

निश्चित रूप से, राजनीतिक पदावली में आज का विश्व एक उत्तर– औपनिवेशिक समाज बन चुका है। बाजार के सन्दर्भ में वर्चस्वकारी शक्तियाँ अब भी हैं। अस्तु, आर्थिक दृष्टि से अब भी साम्राज्यवाद कायम है। कहने को तो यह भूमण्डलीकरण का दौर है और हम सब एक विश्व गाँव बनने की ओर बढ़ रहे हैं, लेकिन वर्तमान वैश्वीकरण की प्रवृत्ति को हम भारतीय संस्कृति के मूलतंत्र ''बसुधैव कुटुम्बकम्'' और ''यत्र विश्व भवत्येकनीडम्'' के आदर्शों के समरूप रखकर नहीं आंक सकते। दरअसल, वर्तमान वैश्वीकरण विश्व बाजार के रूप में एक खेल का मैदान है। इस खेल में कोई जीत रहा है, तो कोई हार रहा है। इसी कारण इसमें किसी का वर्चस्व होगा तो कोई विजित (Subordinated) भी होगा। इसलिए आज इस बात की आवश्यकता है कि मुक्त बाजार व्यवस्था का एक प्रभावी अंग बनते हुए भी भारत अपने प्राचीन सांस्कृतिक प्रत्ययों के साथ–साथ हाशिए पर छूटे हुए सामाजिक अवयवों पर भी विशेष ध्यान देना होगा। इसलिए विनिवेश करते हुए भी हमें विशेष सावधान रहना होगा। विनिवेश करना शायद बाजार अर्थव्यवस्था की मजबूरी हो, लेकिन इस मजबूरी को गले लगाना कत्तई उचित नहीं है।

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

सन्दर्भ सूची–

1– संधान, अंक–2 (संयुक्तांक) प्रत्यय और प्रसंग : वैश्वीकरण, सतीश देशपाण्डेय, पृष्ठ– 9
2– मेनस्ट्रीम, नवम्बर, 16, 2002, पृष्ठ– 14
3– इण्डियन इकॉनॉमिक रिव्यू, सं0 XXXVI, Jan-Jan., 2002 पृष्ठ– 24
4– वही, पृष्ठ– 24
5– फांज काफ्का, कैसल, पृष्ठ– 215
6– व्याख्या : हेनरी किसिंगर, 12 अक्टूबर, 1994 ट्रिनिटी कॉलेज, डबलिन, मेनस्ट्रीम, नवम्बर 16, 2002, पृष्ठ– 15 से उद्धृत।
7– वही, पृष्ठ– 15